34

मेरी साहित्यिक चेतना का इतिहास

मैं जिन साहित्यिक आयोजनों में भाग लेता आ रहा हूँ यदि उनका विवरण लिखा जाय तो उसीसे एक महाग्रंथ तैयार हो जाएगा। परंतु न तो वह आवश्यक ही है और न मेरे पास उसका ब्यौरा ही है क्यांकि मैंने कभी डायरी नहीं लिखी। मेरी याददाश्त भी बच्चनजी के समान नहीं है जिन्होंने अपनी जीवनी के पाँच भागों में अपने जीवन का विस्तृत ब्यौरा दिया है। उसका महत्त्व बच्चनजी के कारण भी बढ़ जाता है क्योंकि वे लोकप्रिय कवि रहे हैं और अपनी कविता द्वारा भी अपने जीवन को रेखांकित करते रहे है। अपने जीवन की अभिव्यक्ति तो मैंने भी कविता के माध्यम से की है परंतु उसकी शैली बच्चनजी की शैली से भिन्न है। फिर मेरे जीवन में, कम से कम आज तो, बहुत कम लोगों की दिलचस्पी होगी। शायद ही कोई प्रकाशक मेरी जीवनी छापने का साहस कर सके। फिर भी मैं क्यों ये कागज काले करता जा रहा हूँ और इस कार्य में इतना श्रम लगा रहा हूँ, यह प्रश्न स्वाभाविक है। मैं यह स्वीकार करना चाहता हूँ कि यह आत्मकथा लिखने में मुझे अपने जीवन को फिर से जीने का सुख मिल रहा है। 'इसे छपाने को क्यों उत्सुक हूँ', तो इसका कारण है कि भविष्य में मेरे परिवार के सदस्यों को अपने परिवार का इतिहास जानने में सुगमता हो। छपाने का एक और भी कारण है। मैं जानता हूँ कि मेरा काव्य दिनोंदिन अधिक लोकप्रियता प्राप्त करता जायगा क्योंकि वह मानवीय-संवेदना पर आधारित है और सामयिकता से ऊपर उठकर लिखा गया है चाहे उसकी प्रेरणा का स्रोत कोई तत्कालीन घटना या अनुभूति ही क्यों न रही हो। ऐसी अवस्था में, मेरे साहित्य-प्रेमियों को मेरे जीवन में घटी हुई छोटी-बड़ी सभी घटनाओं को जानने की दिलचस्पी हो सकती है। शेक्सपियर और तुलसीदास, दोनों के जीवन को गुमनामी के अँधेरे से निकालने में सैंकडों पोथे लिखे गये हैं और यह क्रम थमने का नाम नहीं लेता। महात्मा गाँधी को जैसे महादेव भाई मिल गये थे जिन्होंने अपनी मृत्युपर्यंत उनकी प्रतिदिन की घटना का विवरण संसार के लिए सुलभ कर दिया या बाद में प्यारेलाल ने जिस प्रकार महात्माजी के निर्वाण के दिन तक

का इतिहास उपलब्ध करा दिया, यदि वैसा कोई भक्त शेक्सपियर या तुलसीदास को मिला होता तो संसार का कितना भला होता और लोगों को कितनी प्रेरणा मिलती! मैं समझता हूँ, जीवनी से अधिक प्रेरणाप्रद और सही एवं गलत की शिक्षा देनेवाली, काव्य को छोड़कर कोई अन्य लिखित विधा नहीं है। उपन्यास या कहानी में कितनी भी उपदेश या ज्ञान की शिक्षा देनेवाली घटनाएँ भरी हों, पाठक जानता है कि वे काल्पनिक हैं, परंतु जीवनी तो दर्पण की तरह उसे अपना प्रतिबिंब भी जीवनी-लेखक के परिप्रेक्ष्य में देखने को विवश कर देती है।

मैंने अपने व्यापारिक जीवन का जो इतिहास आगे लिखा है वह कितने ही व्यक्तियों को सतर्कता की शिक्षा दे सकता है। इसी प्रकार मैंने अपने जीवन की जिन चमत्कारी घटनाओं का विवरण लिखा है वह किसी परोक्ष सत्ता की अनुभूति कराने में सहायक हो सकता है। नरसी मेहता के भात भरने की कथा राजस्थान में सभी लोग जानते हैं कि कैसे भगवान ने गाढ़े में उनकी सहायता की थी और उसको याद कर के वे संकट में धीरज भी धरते हैं। मैं नरसी मेहता जैसा भक्त तो नहीं हूँ परंतु मेरे जीवन में वैसी ही जो पूर्णवर्णित घटनाएँ समय-समय पर घटी हैं उन्हें अंधा संयोग नहीं कहा जा सकता। मेरे मोटर की सीतापुर में जब्तीवाला प्रसंग, बड़बीघा गाँव के रुपया चुकानेवाला पटना का प्रसंग या रात में एक छोटा-सा निमित्त बनाकर मेरे गहनों को चोरी होने से बचानेवाले प्रसंगों को कोई किस प्रकार मात्र संयोग कह सकता है !

मैं इस प्रकरण में अपने अनेक साहित्यिक आयोजनों में से कुछ ऐसे ही आयोजनों का विवरण प्रस्तुत करूँगा, जिनकी याद मुझे बनी हुई है तथा रोचकता की एवं मेरे साहित्यिक जीवन को प्रेरणा देने की दृष्टि से भी जिनका महत्त्व है। अंत में एक बात मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि कोई भी व्यक्ति अपनी आत्मकथा पूरी तरह नहीं लिख सकता। ग्रीक भाषा की इस उक्ति के अनुसार कि **किसीको सुखी नहीं कहना चाहिए जब तक तुम उसका अंत नहीं देख लो,** मृत्यु से पूर्व का सारा इतिहास अधूरा ही होगा। मृत्यु के पूर्व जीवन प्रतिक्षण नये-नये अनुभवों से गुजरता जाता है। उनमें से कितने ही ऐसे महत्त्वपूर्ण होते हैं जो उसके पूर्व के सभी क्रिया-कलापों पर हावी हो जायँ। स्वयं मृत्यु के समय का जीवन व्यक्ति के जीवन के सारे जीवन का निचोड़ बन सकता है। इस संबंध में महात्मा गाँधी और संत विनोबा भावे का उदाहरण प्रत्यक्ष है जिनकी मृत्यु ने उनके जीवन के सिद्धांतों पर सत्य की मुहर लगा दी और जिसके वर्णन के बिना उनकी जीवनी अधूरी कहलायेगी। इस दृष्टि से

विचार करने पर मेरी यह आत्मकथा भी अधूरी ही कहलायेगी जिसे पूर्ण करने का उत्तरदायित्व भावी पीढ़ियों पर होगा।

मेरे काव्यगुरु स्वामी नारायणानंद सरस्वती से कवित्व की दीक्षा तथा गया का 1936 का कविसम्मेलन

सब से पहली याद तो मुझे गया में ब्रह्मयोनि पहाड़ पर श्रावण के महीने में हुई उस सैर की है जिसमें अपने काव्यगुरु स्वामी नारायणानंदजी सरस्वती के दर्शनों का सौभाग्य मिला था और जिसने मेरे जीवन की दिशा बदल दी थी। वे कानपुर से भ्रमण करते हुए गया आ गये थे और ब्रह्मयोनि पहाड़ के कपिलधारा नामक स्थान पर बने हुए एक महात्मा के आश्रम में ठहरे हुए थे। हमारी मंडली में वयस्क लोगों में मैं 11-12 वर्ष का सब से छोटा सदस्य था। स्वामीजी कवि हैं यह जानकर सभी लोग वहाँ उनके पास कविता सुनने को एकत्र हो गये।

स्वामीजी ने भी प्रेम से अपनी बहुत सी कविताएँ सुनाईं जिनको हम सभी मंत्रमुग्ध होकर सुनते रहे। उनकी कविताओं ने सब का मन मोह लिया। स्वामीजी शास्त्रों के भी बहुत बड़े पंडित थे और उन्होंने अहल्या-इंद्र-प्रसंग जैसे पौराणिक वर्णनों की मनोवैज्ञानिक और काव्यात्मक व्याख्या द्वारा सब पर अपनी विद्वत्ता की धाक भी जमा दी। लोगों ने उनसे गया में कुछ दिन टिकने का आग्रह किया और अपने संपादन में कोई साहित्यिक एवं धार्मिक मासिक-पत्रिका गया से प्रकाशित करने का अनुरोध किया। स्वामीजी पहाड़ पर तो अधिक काल तक निवास कर नहीं सकते थे अतः एक गयावाल पंडे ने अपने भवन में उनके लिए रहने की व्यवस्था कर दी। उनके साथ सेवा करने को रामवतार ब्रह्मचारी नामक एक किशोर भी आया था। स्वामीजी के निवास की व्यवस्था हो जाने के पश्चात् हमारे यहाँ बैठक में भोजनोपरांत आने का उनका नियमित दैनिक कार्यक्रम बन गया। मेरे चाचा देवीलालजी ने, स्वामीजी के व्यय का भार उठा लिया और उनसे अपने पुत्र अर्थात् मेरे चचेरे भाई प्रहलाद को शिक्षित करने का अनुरोध किया। यह क्रम प्रायः दो वर्षों तक चला। प्रहलाद तो स्वामीजी के लाख प्रयत्नों के बावजूद विशेष कुछ भी पढ़-लिख नहीं सका परंतु मैंने स्वामीजी से काव्य का मंत्र पा लिया। अपनी व्याकरण की पुस्तक में छंद आदि का ब्यौरा देखकर एक दिन मैंने स्वामीजी से उनके संबंध में जानने की इच्छा व्यक्त की तो उन्होंने छंद की विधियाँ मुझे बताते हुए कविता लिखने को प्रेरित किया। फलतः मैंने

दूसरे दिन रोला छंद में अपने बगीचे का, जहाँ मैं सुबह टहलने जाता था, यह वर्णन उन्हें सुनाया।

गाते है चहुँ ओर विहगगण मधुर राग को
मधुकर होकर मत्त पान करते पराग को
फैली है चहुँ ओर सुखद, शीतल हरियाली
खिले हुए हैं सुमन, छहरती छटा निराली
पथिक! मनोरम विपिन यह, नंदन की समता लिए।

स्वामीजी ने तीसरी पंक्ति में 'चहुँओर' शब्द को हटाकर 'अति रुचिर' कर दिया और मुझे बताया कि वह पुनरुक्ति है जिसे दोष माना जाता है और जिससे बचना चाहिए। रोला छंद को छप्पय बनाने के लिए एक दूसरे उल्लाला छंद की दो पंक्तियाँ जोड़नी आवश्यक होती हैं। उपर्युक्त छंद को रोला से उल्लाला बनाने के लिए पाँचवीं पंक्ति तो मैंने लिख दी थी परंतु दूसरी पंक्ति मुझे नहीं सूझ रही थी। स्वामीजी ने ही तुरत पूर्ति करके आगे लिख दिया **कवि गुलाब सुषमा निरख, क्यों न होयँ हषित हिये!**

स्वामीजी की कृपा से मैं गुलाब से कवि गुलाब बना दिया गया और कवि के रूप में नित्य एक रोला छंद स्वामीजी को बनाकर सुनाने लगा। स्वामीजी गया में प्रायः दो वर्ष रुके थे जिस अवधि में उन्होंने मुझे अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का **प्रिय-प्रवास** और लाला भगवानदीन की **अलंकार-मंजूषा** पूरी पढ़ा दी। इस का लाभ यह हुआ कि 11-12 वर्ष की अल्पावस्था में एक तो मेरा शब्दज्ञान अत्यंत विस्तृत हो गया, दूसरा, काव्य के अलंकारों का भी मुझे यथेष्ठ ज्ञान हो गया। स्वामीजी उर्दू फारसी के भी पंडित थे और उर्दू तथा फारसी में भी काव्य-रचना करते थे। उन्होंने मुल्तजी के उर्दू के प्रबंध-काव्य (मसनवी) **सुदामा-चरित** का, कठिन उर्दू के शब्दों का अर्थ देकर, नागरी लिपि में प्रकाशन करवाया था। उसके संपादक भी वही थे। वह भी उन्होंने मुझे पढ़ाया जिससे उर्दू छंद का भी मेरे कच्चे मानस में अभ्यास हो गया और मैं उर्दू की ग़ज़लों का भी प्रेमी ही नहीं हो गया, मुशायरों के लिए दी गयी तरह अर्थात् समस्या पर उर्दू की ग़ज़लें भी लिखने लगा। स्वामीजी ने अपनी मासिक-पत्रिका **संत-संदेश** के दो अंक गया से निकाले भी थे परंतु अंत में उनका जी उचट गया और मेरे चचेरे भाई प्रहलाद, के विवाह में बरेली से लौटने पर लखनऊ में वे अपने मित्र हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि सनेहीजी के साथ कानपुर लौट गये

जहाँ एक धर्मशाला में उनका स्थायी निवास रहता था। मैं शादी में तो बरेली गया ही था, वहाँ स्वामीजी ने विवाह के लिए घनाक्षरी छंदों मे एक कसीदा लिखा था जिसे छपाने को वे मेरे साथ **राधेश्याम-रामायण** के प्रख्यात रचयिता राधेश्यामजी के प्रेस में गये थे और उसे छपवा कर विवाह-स्थल में स्वागत-समारोह के अवसर पर पढ़ा था और वितरित करवाया था। राधेश्याम प्रेस में स्वामीजी के आगमन की सूचना पाकर बरेली के कितने ही ख़यालबाज मोटे-मोटे रजिस्टर लेकर स्वामीजी के पास आ गये थे। वे स्वामीजी के लिखे हुए ख़यालों के रजिस्टर थे जिन्हें वे ख़यालबाज गाया करते थे। स्वामीजी लिखकर उन्हें अपनी रचनाएँ सौंप देते थे जिन्हें गाकर वे अपनी जीविका चलाते थे। अपने ख़यालों के रजिस्टर ख़याल गानेवालों को देकर स्वामीजी ने अपने पास उनकी प्रतिलिपि या कोई अपना लिखित काव्य-ग्रंथ नहीं रक्खा था। अपरिग्रह का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है!

स्वामीजी ने मुझे मेरी पहली तुकबंदी में ही कवि का विशेषण दे दिया था। यह साधारण आशीर्वाद नहीं था। **मृषा न होहिं देवऋषि वाणी।** मैं समझता हूँ कविरूप में आज मैं जो कुछ भी हूँ उसका बीज-वपन तो स्वामीजी के उस पहले संबोधन से ही हो गया था जो मेरे प्रथम छंद की अंतिम पंक्ति में उन्होंने कर दिया था। बाद में बेढबजी ने जलसिंचन कर और पौधे का सँभाल-रखाव कर उसे पल्लवित किया था। भाग्य की या पूर्वजन्म की तपस्या थी कि उस पौधे को काशी की उर्वर भूमि प्राप्त हो गयी। आज सोचता हूँ कि निकट के पटना विश्वविद्यालय को छोड़कर क्यों मेरे अंतर्मन में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में पढ़ने की धुन समा गयी थी। न तो किसी शिक्षक ने मुझे ऐसी सलाह दी थी, न परिवार में ही किसीको मेरी पढ़ाई आगे कालेज में चलाने में दिलचस्पी थी। क्या यह मेरे पूर्वजन्म से अर्जित संस्कारों का ही प्रभाव नहीं था! जैसे सारा नाटक कंप्यूटर में पहले से भरा हुआ हो, जीवन भी कभी-कभी ऐसी ही अनुभूति देता है। यदि मैं बनारस नहीं जाता तो मैं नहीं जानता हूँ मेरी काव्य-यात्रा कैसे चलती। सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि मैंने बनारस में हिंदू विश्वविद्यालय में भर्ती होने के प्रारंभिक दिनों में ही एक ऐसा दृश्य देखा जो अब तक मेरे मानस-पटल पर अंकित है। अपने सामने एक ही इक्के पर पं. रामचंद्र शुक्ल, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और बाबू श्यामसुंदर दास को मैंने देखा। हिंदी-विभाग में तो तीनों एक साथ दिखाई दे ही जाते थे परंतु इक्के पर एक

साथ तीनों को सवार देखना तो परम आश्चर्यजनक दृश्य था क्योंकि उस समय भी इतना ज्ञान मुझे हो चुका था कि ये तीनों आधुनिक हिंदी के अपने-अपने क्षेत्र के शलाका-पुरुष हैं।

मेरा पहला कवि-सम्मेलन का अनुभव तो सन् 1936 का है जब मेरे नगर गया में आरा नागरी प्रचारिणी सभा के आयोजन से लौट कर कविसम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा हालावाद के प्रवर्तक हरिवंश राय 'बच्चन' पधारे थे। वह तुलसी-जयंती का आयोजन था जिसके संयोजक गया के सुप्रसिद्ध साहित्यिक पं. राधारमण शर्मा थे। कवि-सम्मेलन में समस्या दी गयी थी 'जमायेंगे'। स्वामी नारायणानंदजी से उन दिनों मेरा काव्य-शिक्षण चल रहा था। उन्होंने मुझे 'जमायेंगे' की समस्या-पूर्ति करने को कहा। मैंने समस्या-पूर्ति घनाक्षरी छंद में लिखी जिसकी अंत की दो पंक्तियाँ थीं—

हिंदी ही बनेगी राष्ट्रभाषा राष्ट्र-प्रेमियों की
राष्टवीर राष्ट्र पर बलि-बलि जायेंगे
गूँजेगा दिगंत में हमारा शुभ्र सिंहनाद
भारत को उन्नति के शिखर पर जमायेंगे

कविसम्मेलन का सभापतित्व प्रो. मनोरंजनजी कर रहे थे जो बाद में हिंदू विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्राध्यापक हो गये थे और जिनसे बाद में मुझे अँग्रेजी पढ़ने का अवसर भी प्राप्त हुआ था। स्वामीजी मुझे उस कविसम्मेलन में ले गये और मेरा नाम समस्यापूर्ति करनेवालों में लिखवा दिया। पुकार होने पर मैं घड़कते हुए हृदय से मंच पर पहुँचा। मुझे इतना ही आश्वासन था कि मेरे गुरुवर स्वामीजी भी हरिऔधजी और बच्चनजी के साथ सभापति की बगल की कुर्सी पर बैठे थे। प्रो. मनोरंजनजी ने मेरे कविता-पाठ के पूर्व कहा कि एक गुलाब की कली जो अभी फूल नहीं बनी है, उसकी रचना आप लोग सुनें। उस कवि-सम्मेलन में मेरी रचना पर क्या प्रतिक्रिया हुई उसको जानने का मुझे अवकाश कहाँ था! 11-12 वर्ष के बालक का भरी सभा में इतने विशिष्ट व्यक्तियों के सम्मुख कविता-पाठ कर लेना ही बहुत बड़ी बात थी। इस कवि-सम्मेलन ने मुझे बहुत बड़ी प्रेरणा दी। विशेषकर बच्चनजी की कविता का तो मैं पुजारी ही बन गया। उनकी सुनाई हुई **मधुकलश** की रचना **मिट्टी का तन, मस्ती का मन, क्षण भर जीवन मेरा परिचय** को तो मैं उन्हींकी धुन में स्कूल के दिनों में मस्त होकर गाया करता था।

गया के विद्यार्थि-काल में गया के दो अन्य कवियों से भी मुझे प्रभूत स्नेह और प्रोत्साहन मिला। एक थे भारत-प्रसिद्ध छायावादी कवि और संस्मरण-लेखक पं. मोहनलाल महतो 'वियोगी' और दूसरे गया जिला स्कूल के शिक्षक, कवि श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र'। रुद्रजी के मधुर कंठ के नाते और सुंदर कवितापाठ के कारण गया के कवि-सम्मेलनों में उनकी तूती बोलती थी जब कि वियोगीजी कभी किसी कविसम्मेलन में भाग नहीं लेते थे, फिर भी उनका नाम गया के साहित्यिकों में बड़ी श्रद्धा और गर्व के साथ लिया जाता था और हर जगह उनकी चर्चा होती रहती थी।

एक व्यक्ति और थे जो कवि न होते हुए भी गया के साहित्यिक-समाज में प्रमुख स्थान रखते थे। वे थे पं. श्यामदत्त मिश्र। उन्होंने मुझे हिंदी पढ़ायी भी थी और मुझमें साहित्य की विस्तृत चेतना जगायी थी। उनके कहने से ही मैं सुमित्रानंदन पंतजी का **गुंजन** और मैथिलीशरणजी गुप्त का **साकेत** पढ़ सका था। **साकेत** से तो मैंने विशेष लाभ नहीं लिया परंतु **गुंजन** ने तो मुझे न केवल नयी साहित्यिक भाषा का बोध ही कराया, मुझमें सूक्ष्म काव्य-रचना की प्रेरणा भी जगायी। मुझे याद है, उन दिनों मैं बनारस गया था और गंगा में नौका-विहार पर मैंने पंतजी के नौका-विहार जैसी ही लंबी रचना की थी। खेद है कि वह रचना कहीं गुम हो गयी।

10वी कक्षा में आने के बाद मुझे खाँसी की बीमारी सताने लगी। दम फूलने के कारण दमा का भी संदेह था क्योंकि हमारे परिवार में मेरे संरक्षक ताऊजी गयाप्रसादजी तथा उनके पुत्र मेरे बड़े भाई बनारसीलाल को भी दमा की बीमारी थी। मुझे गोद लेनेवाले रायसाहब को भी यही बीमारी थी। उनके पास निरंतर उगलदान पड़ा रहता था और एक सेवक और एक वैद्य निरंतर उनके पास बने रहते थे। दमा की बीमारी का संदेह होने पर मेरे जन्मदाता पिता मुझे हवापानी बदलने के विचार से पढ़ाई छुड़ाकर राजस्थान ले गये। इस प्रकार मेरा एक वर्ष का शिक्षा का समय व्यर्थ चला गया। मुझे पढ़-लिखकर कहीं नौकरी तो करनी ही नहीं थी इसलिए मेरी पढ़ाई की प्रगति के विषय में किसीको विशेष चिंता भी नहीं थी। मेरी पुरानी स्कूल जो गया सिटी स्कूल के नाम से जानी जाती थी, उसमें उस समय तक सरकारी स्वीकृति न मिलने के कारण 11वीं कक्षा (उस समय का मैट्रिकुलेशन) की व्यवस्था नहीं थी, फलतः मेरा नाम हरानचंद्र हाइ स्कूल नामक एक दूसरे विद्यालय में लिखा दिया गया था जिस विद्यालय से मेरा वैसा भावात्मक लगाव नहीं था जैसा गया सिटी स्कूल से था जिसमें छठी क्लास

से लेकर 10वीं क्लास तक मैं पढ़ चुका था। उस समय तक मेरे काव्यगुरु स्वामी नारायणानंदजी सरस्वती भी गया से जा चुके थे। अतः मुझे पढ़ाई छोड़कर राजस्थान जाने में जरा भी खेद नहीं हुआ। राजस्थान के जयपुर नगर में दूधूवाले बाग में स्थित एक किराये का मकान लेकर हम लोग रहने लगे। इस बाग में माँ भी अपनी यक्ष्मा की बीमारी में रही थी। बीच-बीच में अपने गाँव मंडावा भी हमारा आना-जाना होता रहता था। वह गाँव जयपुर से प्राय 100-125 मील पर था। मुझे कविता का चस्का तो लग ही गया था। निरंतर कुछ न कुछ लिखता जाता था। उस समय की, सनेहीजी के संपादन में निकलनेवाली पत्रिका **सुकवि** का मैं ग्राहक बन गया और यदा-कदा उसमें समस्यापूर्ति करके भी भेजने लगा। एक बार 'ही' की समस्यापूर्ति, जो मैंने भेजी थी और उसमें छपी थी, उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

युग कर्ण-कुहरों में कृषक-क्रंदन कभी पहुँचा नहीं
दुख देख दीनों का न दृग से अश्रु की धारा बही
भू व्यर्थ की बोझिल, हुआ नर-जन्म उसका व्यर्थ ही।

जयपुर में रहकर ही मैंने राजस्थान पर भी एक लंबी कविता लिखी थी जो कहीं खो गयी है।

जयपुर में, वैद्यों की चिकित्सा में एक वर्ष का समय गवाँ कर, 1937 में मैं गया लौट आया और मैंने पुनः अपनी उसी पुरानी गया सिटी स्कूल में 11वी क्लास में प्रवेश ले लिया। उस समय तक उसमें 11वें क्लास की स्वीकृति मिल गयी थी।

मेरी तरह ही बच्चनजी की कविताओं का, मेरा उस समय का सहपाठी विपिन भी अत्यंत प्रेमी था। उसे बच्चनजी की दर्जनों कविताएं कंठस्थ थीं। वह मेरा अनुगामी और परम प्रशंसक भी बन गया था। स्कूल के बाद का उसका अधिकांश समय मेरे साथ ही बीतता था। इस कवि-सम्मेलन के कुछ दिनों बाद, एक दिन मैंने अखबार में देखा कि पटना सिटी में एक विराट् कवि सम्मेलन होनेवाला है ज़िसमें बच्चनजी तथा हिंदी के अन्य बड़े-बड़े कवि पधार रहे हैं। बस मुझ पर पटना जाने का भूत सवार हो गया। विपिन को मैंने साथ लिया और ट्रेन से पटना जा पहुँचा जो हमारे नगर गया से 60 मील की दूरी पर है तथा जहाँ ट्रेन से जाने में तीन-चार घंटे लग जाते हैं। उस कविसम्मेलन में बच्चनजी या बाहर का तो कोई कवि आया नहीं था परंतु पटना के कविगण

से, जिनमें हंसकुमार तिवारी तथा प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' प्रमुख थे, मेरा परिचय हो गया। मुक्तजी तो अध्यक्ष ही थे। हंसकुमारजी उस समय बिहार के काव्यक्षेत्र में पाँव जमा रहे थे। बाद में वे गया में बस गये थे और मेरे घनिष्ठ मित्र बन गये थे। उनसे मेरा संबंध आजीवन बना रहा। मुक्तजी बाद में पटना-स्थित आकाशवाणी-केंद्र के हिंदी के प्रोग्राम-डाइरेक्टर हो गये थे और मुझे निरंतर कविता-पाठ के लिए बुलाया करते थे। वे भी आजीवन मेरे आदरणीय मित्र बने रहे। पटना के कवि-सम्मेलन में मैंने **बहता हूँ मैं तिनका अजान** नामक अपनी कविता पढ़ी और बाहर से आये हुए कवि के नाते तथा अत्यंत अल्पवय का होने के नाते मेरी रचना की सराहना भी हुई।

बिस्मिल इलाहाबादी से परिचय तथा गया के अन्य साहित्यिकों से निकटता

गया के एक आयोजन में बिस्मिल इलाहाबादी से भेंट होना भी मेरी प्रारंभिक साहत्यिक यात्रा का एक छोटा-सा पड़ाव है। हम लोगों का परिवार गया में प्रमुख मारवाड़ी परिवारों में तो गिना ही जाता था, खंडेलवालों का तो एकमात्र संपन्न परिवार था। पूर्व की यात्रा में राजस्थान के हमारी ओर के गाँवों से आनेवाला कोई भी परिचित व्यक्ति हमारे यहाँ 15-20 दिन रुके बिना आगे कोलकाता की ओर प्रस्थान नहीं करता था। हमारे यहाँ मुफ्त ठहरने-खाने की पूरी सुविधा भी थी—बगीचे में दोनों समय निपटना, नहाना, बैठक में गद्दों पर सोना और चौके में, जहाँ दो-दो रसोइये भोजन बनाने में लगे रहते थे, निःशुल्क भोजन करना। मेरे चाचाजी देवीलालजी ने सोचा कि हमें अखिल भारतीय खंडेलवाल महासभा का गया में आयोजन करना चाहिए। इसके लिए महासभा को अगला अधिवेशन गया में करने का आमंत्रण भिजवा दिया गया जो स्वीकृत भी हो गया। फलतः महासभा के एक प्रमुख प्रचारक श्री भैरोंलाल ओढ़ हमारे यहाँ एक मास पूर्व आकर जम गये और उन्होंने इस संबंध मे पत्राचार एवं व्यवस्था आदि का कुल कार्यभार सँभाल लिया। उन दिनों गया में किसी मुशायरे में विस्मिल इलाहाबादी आये हुए थे। वे अपने शायर-मित्र कुश्ता गयावी के यहाँ ठहरा करते थे। मेरे चचेरे ताऊ देवीलालजी ने सोचा कि क्यों न उनसे अधिवेशन में कविता-पाठ करने का अनुरोध किया जाय। बिस्मिल साहब के पास एक बुजुर्ग को साथ लेकर मैं इसके लिए अनुरोध करने गया। वे तुरत तैयार हो गये। खंडेलवाल महासभा में बरेली से उर्दू के एक खंडेलवाल शायर भी आये थे।

आयोजन में हर मौके पर उर्दू के शेर सुना-सुनाकर वे आयोजन में जान डाल देते थे। बिस्मिल साहब के कविता-पाठ से अधिवेशन में रंग आ गया। मैं उर्दू विशेष समझता तो नहीं था, यद्यपि स्वामी नारायणानंदजी द्वारा संपादित मुल्तजी का **सुदामा-चरित** तथा अन्य रचनाओं ने मुझे उस भाषा की आत्मा से परिचय करा दिया था, परंतु एक तो बिस्मिल साहब की रचना सरल उर्दू में थी, दूसरे वाहवाही की इतनी धूम थी कि मैं गद्‌गद् हो गया।

दूसरे दिन हमारे बाग़ में बिस्मिल साहब के लिए एक विशेष आयोजन किया गया। चूँकि यह आयोजन हमारे बाग़ में हो रहा था इसलिए मुझे हिचक नहीं थी और मैंने उठकर कहा, मैंने कल के आयोजन पर तथा बिस्मिल साहब के काव्यपाठ पर एक कविता लिखी है, उसे सुनाना चाहता हूँ। मेरे ताऊजी तो प्रसन्न हो ही गये, बिस्मिल साहब ने भी मेरा उत्साह देखकर कहा, 'जरूर सुनाओ, पहले तुम्हारी कविता ही सुनेंगे।' मैंने जो कविता सुनाई वह उर्दू की बहर में ही थी और यों थी —

पूछा मुझसे जो किसीने कि वहाँ क्या देखा
कौन सी चीज नयी, कौन-सा जल्वा देखा
बोला मैं कुछ नहीं बस सुन लिये शेरे बिस्मिल
वाहवा लब्ज सुना, दिल का उछलना देखा
हो गया जड़ न रही याद मुझे तन-मन की
कैसे तुमकों ये बताऊँ कि वहाँ क्या देखा

13-14 वर्ष के बालक के मुँह से अपनी प्रशंसा की यह रचना सुनकर बिस्मिल साहब अत्यंत प्रसन्न हो गये। वे बीच-बीच में 'वाह-वाह' के साथ 'जीनियस, जीनियस' भी बोलते जाते थे। में जीनियस शब्द का अर्थ नहीं जानता था परंतु मेरे पिताजी मुझे अंग्रेजी की अरेबियन नाइट पढ़कर सुनाया करते थे जिसमें जिनियाई शब्द आता था जो दैत्य के लिए प्रयुक्त होता था। मैंने समझा कि बिस्मिल साहब मुझे दैत्य तो कहते नहीं होंगे क्योंकि वे मेरी प्रशंसा में बारबार वाहवाही की बौछार कर रहे थे अतः मुझे जीनियस बताने का अर्थ यही हो सकता है कि वे कह रहे हैं कि मुझमें कविता की वैसी ही शक्ति है जैसी दैत्यों में होती है।

खंडेलवाल महासभा में मैंने अपनी हिंदी की भी कई रचनायें पढ़ी थीं। मेरे लिए चाँदी के कितने ही पदक घोषित किये गये जो शायद मेरी कविता से

अधिक इस कारण से थे कि मेरे परिवार की ओर से ही सारा तीन-दिवसीय महासभा का आयोजन किया गया था और मेरा परिवार ही एक मात्र आतिथेय था।

वहाँ से मैट्रिक पास करके सन 1939 में मैंने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में इंटर में प्रथम वर्ष में प्रवेश ले लिया।

मेरे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने के बाद, वियोगीजी पत्रों के माध्यम से निरंतर मुझे प्रेरणा देते रहते थे और मैं भी जो नयी कविता लिखता था, उन्हें भेज देता था। गया में जब मैं छुट्टियों में आता था तो अधिकांश समय वियोगीजी के यहाँ जाकर उनकी बैठक में बिताता था। गयावाल पंडा होने के कारण उनके पास अवकाश की कमी नहीं थी और उनके संस्मरण उनकी रोचक शैली में सुनते-सुनते कब दिन बीत जाता, याद ही नहीं रहता था। उनके यहाँ मैं अपने बालसखा विपिन को भी ले जाता था क्योंकि वह भी अत्यंत साहित्यिक रुचि का था।

बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में जाने पर मेरा जिन साहित्यिक मित्रों से परिचय हुआ उनमें सर्वप्रथम भदोही के श्री राधेश्यामगुप्त का नाम आता है। वे बड़ी ही साहित्यिक-चेतना से सपन्न अभिजात रुचि के विद्यार्थी थे। वे मुझसे दो साल आगे थे अर्थात् मैं जिस साल इंटर प्रथम वर्ष का विद्यार्थी था, उस साल वे बी. ए. प्रथम वर्ष में थे। शांतिप्रियजी ने उनके व्यक्तित्व के संबंध में कहा था कि वे शांतिनिकेतन टाइप के व्यक्ति हैं।

कविसम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

राधेश्याम गुप्त के साथ एक दिन मैं कविसम्राट की उपाधि से पुकारे जानेवाले अयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध' के निवास स्थान पर भी गया जो विश्वविद्यालय से बहुत दूर नहीं था। उनका **प्रियप्रवास** पढ़ने के कारण मेरे हृदय में उनके प्रति गहरी श्रद्धा भी थी। यों भी उस जमाने में उनकी और मैथिलीशरणजी गुप्त की जोड़ी हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिनी जाती थी। हरिऔधजी बड़े प्रेम से मुझसे मिले। मेरी कविताएँ भी सुनीं और मुझे **प्रिय-प्रवास** के बाद उसी शैली में रचित अपने दूसरे महाकाव्य **वैदेही-वनवास** का कुछ अंश भी सुनाया। वे सुनाते जाते थे और रोते जाते थे। पता नहीं भावनावश ऐसा होता था या यह कोई बुढापे का रोग था। उन्होंने यह भी कहा कि लोग मेरे बारे में झूठी अफवाह उड़ा रहे हैं कि **प्रियप्रवास** मैंने नहीं लिखा,

वह किसी सुमेरसिंह नामक अन्य व्यक्ति की कृति है जो मैंने गायब करके अपने नाम से छपा दी है। यह चर्चा मैंने और भी कई स्थानों पर सुनी थी। बेढबजी से परिचय होने के बाद मुझे पता चला कि इस अफवाह के जनक वे ही थे। यों तो बेढबजी भी आजमगढ़ के थे जहाँ के हरिऔधजी थे, परंतु मैं देखता था कि बेढबजी उनका बहुत मजाक उड़ाया करते थे।

यह तो स्वीकार ही किया जाता है कि हरिऔधजी **प्रिय-प्रवास** जैसी अन्य रचना नहीं लिख सके। उनका **वैदेही-वनवास** तो बिल्कुल ही नहीं चल सका। इस विषय में मेरा अपना मत है कि **प्रिय-प्रवास** की भाषा और शैली सर्वथा कृत्रिम और संस्कृत छंदों के आधार पर होने के कारण गणपूर्ति के लिए शब्दों के पहले 'कु' और 'सु' का जोड़ लगाने के कारण भी हिंदी के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त है। नयी कृति होने के कारण उसकी धूम मच गयी परंतु उसी शैली में लिखी दूसरी कृति के आने तक संस्कृत वृत्तों में लिखी उस अस्वाभाविक शैली से लोग ऊब चुके थे।

काशी में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का 1939 का अधिवेशन

बनारस में सन 1939 के अक्टूबर में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। मैं उस समय तक बेढबजी के संपर्क में नहीं आया था। उनसे दिसंबर 1939 के कवि-सम्मेलन में प्रथम बार मिला था। बनारस के अ. भा. हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष डा. अमरनाथ झा थे जो हिंदी हिंदुस्तानी के प्रश्न पर देशरत्न राजेंद्र प्रसाद को पराजित करके निर्वाचित हुए थे। बिहार में उन दिनों प्रांतीय शासन के अंतर्गत कांग्रेसी सरकार थी जिसके शिक्षामंत्री डॉ. महमूद थे। उन्होंने प्रारंभिक वर्गों के लिए हिंदुस्तानी का प्रयोग करके किताबें लिखवायी थीं। उनमें रामायण की कथा के वर्णन में बादशाह दशरथ और उनकी तीन बेगमें कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी लिखा था। गुरु के लिए उस्ताद शब्द का प्रयोग किया गया था। हिंदुस्तानी के इस रूप को देखकर सम्मेलन के उस आयोजन में बड़ा हल्ला मचा था। हिंदुस्तानी का यह स्वरूप ही डॉ. राजेंद्रबाबू की पराजय का कारण था अन्यथा वे उस समय के सर्वमान्य राष्ट्रीय नेता थे और उनसे प्रतिद्वंद्विता की तो बात ही क्या, उनका सम्मेलन का सभाभति बनना ही सम्मेलन के लिए परम गौरव का विषय बनता। सम्मेलन के उसी अधिवेशन में मैंने बेढब जी, पं. सीतारामजी चतुर्वेदी, संपादकाचार्य

अंबिकादत्त बाजपेयी, निरालाजी, बच्चनजी, पुरुषोत्तदासजी टंडन, संपूर्णानंदजी आदि के दर्शन किए। पहली बार निरालाजी के मुँह से उनकी कविता सुनी। जो दो रचनायें उन्होंने वहाँ सुनायी थीं, वे मुझे आज भी याद हैं। पहली रचना जो उन्होंने गाकर सुनायी थी उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं ---

मेरे अंतर में आते हो देव, निरंतर
दिखलाते हो कृपा-भाव मृदु,
बारबार कर-कंज बढ़ाकर
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।
नव प्रभात जीवन में भर देते हो।

अपने काव्यपाठ की कुछ पंक्तियाँ उन्होंने स्वराघात शैली में **राम की शक्ति पूजा** से सुनायी थीं। उनमें सीता से पुष्पवाटिका में मिलन की राम की स्मृति का, अत्यंत मार्मिक और चित्रमय वर्णन था। इसके बाद यद्यपि **राम की शक्तिपूजा तुलसीदास** तथा अन्य रचनाएँ निरालाजी के मुँह से अनेक बार सुनने का अवसर मिला है, पर उस प्रथम पाठ की गूँज आज भी मन में सुरक्षित है।

उस अधिवेशन में बेढबजी ने अपनी **मेढ़ा** नामक कहानी पढ़ी थी। उन्हें मैंने दूर से ही देखा था क्योंकि उस समय तक उनसे परिचय नहीं हुआ था। सारे समारोह में मुख्य संचालक का कार्य पं. सीताराम चतुर्वेदी सँभाले हुए थे और एक प्रकार से समस्त आयोजन पर छाये हुए थे। मैंने भी वहाँ कविता पढ़ी थी जिसकी प्रथम पंक्ति थी 'मेघ ! तुझसे होड़ मेरी'। कविता की जनता में क्या प्रतिक्रिया हो रही थी, यह तो मुझे देखने की सुध ही नहीं थी, लंबी कविता होने के कारण मुझे बस यही याद है कि कविसम्मेलन का संयोजक नीचे बैठा हुआ बारबार 'समाप्त कीजिए, जल्दी समाप्त कीजिए' की फुसफुसाहट कर रहा था। मैं उसकी बात पर क्यों ध्यान देने लगा ! पूरी कविता समाप्त करके ही मंच से उतरा। उसी आयोजन में पं. माधव प्रसाद मिश्र की जालियाँवाला बाग पर लिखी रचना सुनी जिस पर तालियों की खूब गड़गड़ाहट हुई थी। बच्चनजी नीचे श्रोताओ की कुर्सी पर खुले अधिवेशन में बैठे रहे और आयोजकों के बारबार अनुरोध करने पर भी मंच पर नहीं गये।

अधिवेशन के दूसरे दिन मैं अपने कुछ सहपाठियों के साथ विश्वविद्यालय से अधिवेशन की ओर जा रहा था कि हम लोगों ने माघवप्रसादजी मिश्र को एक मोची से अपने जूते की मरम्मत कराते हुए देखा। चूँकि उनकी रचना पर बहुत तालियाँ पिटी थीं, इसलिए हमने उन्हें चाय पीने का आमंत्रण दिया जो

उन्होंने तुरत स्वीकार कर लिया। हम लोग एक रेस्तराँ में जा बैठे। उन्होंने कहा कि जालियाँवाले बाग की घटना के दिन वे भी वहीं बगल के किसी भवन में थे और उन्होंने गोलियों की आवाज सुनी थी। वहीं बैठकर उसी समय उन्होंने वह रचना लिखी थी।

माधव प्रसादजी मिश्र ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'हिंदी हिंद देश की वाणी' भी हमें सुनायी जो सम्मेलन के पहले दिन गायी गयी थी। मिश्रजी बड़ी सरल प्रकृति के थे। इतने प्रसिद्ध कवि होने पर भी हम विद्यार्थियों के साथ वे बड़ी देर तक बातें करते रहे।

1939 में काशी का कविसम्मेलन, प्रसाद परिषद् की सदस्यता तथा काशी के साहित्यिकों से परिचय

यद्यपि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के 4-5 वर्ष पूर्व से ही अर्थात् 11-12 वर्षों की अवस्था से ही मैं कविता लिखने लगा था तो भी विश्वविद्यालय में मेरी कवित्व-शक्ति का परिचय केवल 5-7 व्यक्तियों तक ही सीमित था। मेरे आने के पूर्व हिंदू विश्वविद्यालय में श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' तथा ब्रह्मदेवजी 'पागल' नामक दो उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों की विशेष चर्चा थी। मेरी मित्रता राधेश्याम गुप्त, जिनकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ, नाम के थर्ड इयर के एक विद्यार्थी से हो गयी जो उसी होस्टल के एक दूसरे कमरे में रहते थे। वे हिंदी के बड़े प्रेमी थे और **नागरी** नाम से एक हस्तलिखित पत्रिका भी निकालते थे। उनके दूसरे सहयोगी थे श्री किशोरीलाल गुप्त जो अनेक शोध-प्रबंध लिखकर तथा तुलसीदास, नागरीदास एवं अन्य प्राचीन कवियों पर नयी-नयी प्रामाणिक खोजें करके पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। राधेश्याम गुप्त आग्रह करके मुझे काशी के उस कवि-सम्मेलन में, जिसके संयोजक श्री इंद्रशंकर मिश्र थे, ले गये। उस कवि सम्मेलन के सभापति थे श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़, 'बेढब बनारसी' जिन्होंने उस कविसम्मेलन के बाद मुझे अपने अभिभावकत्व में ले लिया था। बेढबजी काशी की साहित्यिक मंडली के नेता थे तथा प्रसाद और प्रेमचंद के घनिष्ठतम मित्र रह चुके थे। उनके संबंध में ख्याति थी कि प्रसादजी **कामायनी** लिखकर पहले उन्हें सुना लेते थे तभी आगे बढ़ते थे तथा प्रेमचंदजी अपने उपन्यासों की पांडुलिपि उनसे संशोधित कराने के बाद ही छपने को देते थे। उस कविसम्मेलन में मैंने अपनी रचना **मैं कवि के भावों की रानी** पढ़ी और उसकी प्रत्येक पंक्ति पर मुझे जो प्रशंसा प्राप्त हुई उसने कवि के रूप

में मेरी ख्याति चारों और फैला दी। काशी की उन दिनों की सर्वाधिक महत्त्व की साहित्यिक संस्था **प्रसाद परिषद्** का मैं सदस्य बना लिया गया। **प्रसाद परिषद्** में 24 से अधिक स्थानीय सदस्य नहीं हो सकते थे। उसके प्रथम सभापति महान समालोचक पं. रामचंद्र शुक्ल थे। अन्य सदस्यों की नामावली के कुछ नामों से ही उसकी विशिष्ठता का अनुमान लग जायगा। सुप्रसिद्ध दार्शनिक और विद्वान माननीय डॉ. संपूर्णानंदजी, जो बाद में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री और राजस्थान के राज्यपाल बने, हास्य रस के भारत प्रसिद्ध कवि बेढब बनारसीजी, छः विषयों में एम. ए करनेवाले और अभिनव भरत के नाम से दर्जनों नाटकों के लेखक, पं. सीताराम चतुर्वेदी, प्राचीन ब्रजभाषा के कवियों के श्रेष्ठतम समालोचक पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं. करुणापति त्रिपाठी जो बाद में संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति बने थे, कवि और नाटककार अर्जुन चौबे काश्यप, नवगीत के प्रवर्तक शंभुनाथ सिंह, हास्यकवि बेधड़क बनारसी, साप्ताहिक **आज** के संपादक मोहन लाल गुप्त आदि इसके सदस्य थे। बाद में पं. कमलापति त्रिपाठी श्री प्रकाशजी एवं राय कृष्णदासजी भी इसके सदस्य बने थे। इस संस्था से कितने ही वर्षों तक **प्रसाद** नामक साहित्यिक मासिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ था जिसके संपादक बेढबजी थे। भारतीय दर्शन एवं आलोचना पर पं. बलदेव उपाध्याय की कृति, पृथ्वी से सप्त ऋषि मंडल की यात्रा का माननीय संपूर्णानंदजी का अनूठा वैज्ञानिक उपन्यास, बेढबजी द्वारा संपादित गालिब की ग़ज़लों का अर्थसहित हिंदी का प्रथम प्रामाणिक संग्रह, आदि महत्त्वपूर्ण कृतियों के अतिरिक्त मेरे प्रबंध काव्य **अहल्या** का प्रकाशन भी इसी संस्था द्वारा हुआ था। मेरी **अहल्या** और **उषा** नाम की कृतियाँ **प्रसाद परिषद्** की पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित भी हुई थीं। **प्रसाद परिषद्** की बैठकों में निरालाजी, मैथिलीशरणजी गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', मोहनलाल महतो, 'वियोगी' आदि बाहर के प्रमुख साहित्यकार भी, समय-समय पर काशी में पधारने पर, भाग लिया करते थे। इसकी बैठक प्रत्येक पखवारे किसी-न-किसी सदस्य के निवास पर हुआ करती थी जिसमें भाग लेने मैं विश्वविद्यालय से आता था। इसमें साहित्यिक महत्त्व के लेख, कहानी और कविताएं पढ़ी जाती थीं। गंभीर कविता पढ़नेवालों में केवल मैं और शंभुनाथ सिंह, दो ही व्यक्ति थे। शंभुनाथ सस्वर पाठ करते जब कि मैं सीधे-सादे ढंग से पढ़ देता था। मेरा सौभाग्य था कि प्रारंभ से ही मुझे इतने विशिष्ट विद्वानों और प्रौढ़ साहित्यकारों के बीच अपनी कविताएं पढ़ने का अवसर मिलता

गया। मेरे साहित्यगुरु बेढबजी का आचार्यत्व तो सदैव मुझे प्राप्त ही था। प्रारंभ से ही श्रोताओं की ऐसी अपूर्व मंडली पाना भी कम गौरव की बात नहीं थी जो मुझे पग-पग पर छंद, रस, भाषा, औचित्य आदि की मर्यादा का ध्यान रखने का स्मरण दिलाती रहती थी। बेढबजी की एक बात तो सदा मेरे ध्यान में रहती थी कि कविता की पंक्तियों का गद्य की तरह अन्वय करने पर वाक्य पूर्ण हो जाना चाहिए। इस कसौटी पर कितने ही प्रसिद्ध कवियों की कविता भी कभी-कभी खरी नहीं उतर पाती थीं। केवल उदाहरण के लिए प्रसादजी की सुप्रसिद्ध रचना **कामायनी** की प्रारंभिक पंक्ति भी इस दृष्टि से विचार करने से सदोष दिखाई देगी क्योंकि **हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह** के अंत में 'में' की विभक्ति न रहने के कारण इसका अर्थ हो जायगा—हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर शिला की शीतल छाया बैठकर अर्थात छाया एक पुरुष को अपने नीचे बिठाने के स्थान पर हिमगिरी के उत्तुंग शिखर पर स्वयं बैठ जायगी।

बेढबजी का व्यक्तित्व अनूठा था। वे एक साथ ही अत्यंत गंभीर और अत्यंत विनोदी स्वभाव के थे। कवि-सम्मेलनों में जनता उनकी पंक्तियों पर हँसते-हँसते लोटपोट हो जाती थी पर उनके मुँह पर हलकी-सी भी हँसी की रेखा नहीं दिखाई देती थी। जीवन में जितना अधिक उनका साहचर्य और मार्गदर्शन मुझे मिला उतना किसी और का नहीं मिला और उन्होंने जितना मुझे प्रभावित किया, कोई दूसरा नहीं कर सका। मेरे गोद लेनेवाले पिता रायसाहब की तो, जब मैं 8 वर्ष का था, तभी मृत्यु हो गयी थी, मेरे जन्मदाता पिता अत्यंत सरल और शांत स्वभाव के थे, वे मुझ पर किसी प्रकार का नियंत्रण या मेरा मार्ग-प्रदर्शन क्या करते! मेरे ताऊ तो केवल मुझे प्रेम ही दे सकते थे, मार्गदर्शन नहीं। अतः परिवार में एक प्रकार से प्रारंभ से ही मैं स्वतंत्र और स्वेच्छाचारी बन गया था। यह स्वतंत्रता बहुत कुछ रायसाहब की कुर्सी पर बैठने और संपत्ति में उनका भाग पाने के कारण मेरी आर्थिक स्वतंत्रता का भी परिणाम थी। जो भी हो, बेढबजी ने ही मेरे अभिभावक एवं नियंत्रक के रिक्त स्थान की पूर्ति की। मुझे जीवन में जिस नियंत्रण और मार्गप्रदर्शन की आवश्यकता थी, वह सहज ही उनसे मिल गया।

निराला की पंक्तियाँ —

अभिय-गरल, शशि-सीकर-रविकर, राग-विरागभरा प्याला
पीते है जो साधक उनका प्यारा है यह 'मतवाला'

बेढबजी पर सोलहों आने लागू होती थीं। वे ऐसा ही प्याला पीनेवाले साधक थे। यों तो उनके चारों ओर प्रेमी मित्रों की मंडली जुड़ी रहती थी और हास्य-विनोद की वर्षा होती रहती थी परंतु क्रुद्ध होने पर बड़ों-बड़ों की धज्जियाँ उखाड़ते उन्हें देर नहीं लगती थी। उस समय कोई उनके सामने आने का भी साहस नहीं कर सकता था। वे प्रारंभ में डी. ए. वी. कालेज में प्राध्यापक थे जहाँ से वे बाद में प्रिंसिपल बन कर सेवा-निवृत्त हुए थे। विद्यार्थियों पर उनके आतंक की सीमा नहीं थी। संपूर्णानंदजी के पुत्र सर्वदानंद ने मुझे बताया था कि जब उनके पिता उत्तर प्रदेश के शिक्षामंत्री थे और वे बेढबजी के कालेज में विद्यार्थी थे, एक बार कक्षा में देर से आने के कारण बेढबजी ने एक जोर का चाँटा उनके गाल पर केवल यह कहने पर मारा था कि 'घर पर मेरे पिताजी से मिलने कई बड़े-बड़े अफसर आ गये थे, उन्हींके सेवा-सत्कार में विलंब हो गया।' स्वयं संपूर्णानंदजी को, जब वे शिक्षामंत्री थे, किसी बात पर रुष्ट होकर बेढबजी ने परम आक्रोश भरा एक पत्र भेजा था जिसमें यह भी लिख दिया था, 'आप काशी में फिर झोला हाथ में लिए, जूतियाँ घसीटते दिखाई देंगे।'

तो ऐसे कोमल, कठोर पिता जैसे अभिभावक, गुरु और साहित्य-मर्मज्ञ की पैनी दृष्टि और स्नेहपूर्ण अभिभावकत्व में मेरे जीवन और साहित्य का एक सार्थक अभिव्यक्ति और सही निर्देशन पाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। काशी में भी अन्य स्थानों की तरह उन दिनों साम्यवाद से प्रेरित प्रगतिवाद का नारा ऊँचा किया जा रहा था। प्रेमचंदजी का पत्र **'हंस'** तो एक प्रकार से इसका मुखपत्र ही था और उनके पुत्र अमृतराय के साथ शमशेर तथा त्रिलोचन शास्त्री आदि उसके प्रमुख प्रवक्ता थे। बाद में शंभुनाथ सिंह और नामवर सिंह आदि भी उनमें सम्मिलित हो गये थे। काव्य में रस की अस्वीकृति इतनी बढ़ी थी कि शंभुनाथजी ने अपना 'रसिक' उपनाम भी हटा दिया था। प्रगतिवादियों ने प्रगतिशील साहित्य संघ के नाम से प्रसाद परिषद की तुलना में अपनी एक अलग संस्था भी खड़ी कर रक्खी थी परंतु अन्य स्थानों पर प्रगतिवाद का कितना भी जोर हो, बनारस में उसकी कोई पूछ नहीं थी। यहाँ तो उस समय पुरानी शैली के कवियों की एक जमात छायावाद के विरोध में भी खड़ी थी जिसकी ओर से एक पत्रिका भी प्रकाशित होती थी जिसमें कवर पृष्ट पर एक नाचती हुई तरुणी को छायावादी कविता की संज्ञा देकर मोटे-मोटे हर्फों में छपा रहता था, **री पुंश्चली, ठहर तो चाची लौंडे और लपाड़ों की।**

बेढबजी के रहते, उनके जीवनकाल में, मैं बनारस में किसी साहित्यिक समारोह में तभी सम्मिलित होता जिसमें वे भी जाते। उनके कारण ही मुझे काशी से करॉंची और प्रयाग से पूना तक के साहित्यिक आयोजनों में भाग लेने का अवसर प्राप्त होने लगा। उनका संध्या का समय पड़ोस में रहनेवाले डॉ. एच सिंह के यहाँ बीतता था। डा. एच सिंह की पत्नी कमला कुमारी सुप्रसिद्ध कवयित्री सुभदाकुमारी चौहान की छोटी बहन थी। उनके घर में पूर्ण साहित्यिक माहौल छाया रहता था। निरालाजी भी, जो बेढबजी घर पर ही ठहरते थे, वहाँ जाया करते थे। कभी-कभी बेढबजी के साथ मैं नागरी प्रचारिणी सभा में भी जाता था। बेढबजी उसके प्रधान मंत्री थे। वहाँ मैथिलीशरणजी, रायकृष्णदासजी, रामचंद्र शुक्ल आदि से भी मिलने का अवसर मिलता था। संपूर्णानंदजी से भी प्रसाद परिषद् की गोष्ठियों के कारण काफी निकटता हो गयी थी और मुझे उनके अगाध पांडित्य का लाभ मिलता रहता था। एक बार मेरी क्षीण देहयष्टि को लक्ष्य करके उन्होंने यह भी कहा था कि कवि होने के लिए दुर्बल होना आवश्यक नहीं है, आपको शरीर को पुष्ट करने की ओर भी ध्यान देना चाहिए। बेढबजी के साथ उनके आदरणीय मित्र, ट्रेनिंग कालेज के प्रिंसिपल मलकानी साहब के घर पर भी कभी-कभी मेरा जाना होता था। मलकानी साहब का पुत्र मेरा सहपाठी था। उनकी कई पुत्रियों में एक तो बाद में कमलापतिजी की पुत्रवधू बन गयी थी और बहूजी के नाम से राजनीति में विख्यात हो गयी थी। मैं बेढबजी के साथ जब भी वहाँ जाता तो वे सभी बहनें कविता सुनने के लिए मुझे घेर लेती थीं। बेढबजी के सान्निध्य में हास्य और विनोद के प्रसंग निरंतर आते रहते थे। यदि मैं डायरी लिखता होता तो उन्हें लिपिबद्ध करने से एक स्वतंत्र ग्रंथ ही तैयार हो जाता। पर, जीवन में क्या नहीं कर पाया और यदि ऐसा करता तो क्या होता, यह सब सोचने से कोई लाभ नहीं है। जो हो गया उसीको बहुत समझना चाहिए। पहले कई स्थलों पर जैसे-जैसे याद आते गये है, बेढबजी के हास्य के प्रसंगों की मैं चर्चा करता रहा हूँ। यहाँ दो-एक प्रसंग और जो स्मृति में आ रहे है, उन्हें ही लिख रहा हूँ। बेढबजी के पड़ोस में एक किशोरी रहती थी जो बंगाली होते हुए भी हिंदी कविता में बड़ी रुचि रखती थी और कविता लिखती भी थी। उसकी कविता बेढबजी **संसार** साप्ताहिक में, जिसके वे संपादक थे, छाप भी दिया करते थे। एक बार बेढबजी पर फाइलेरिया का, जिसके वे पुराने मरीज थे, दौरा पड़ा। वे दर्द से कराह रहे थे। मैं उनके पास बैठा था। उसी समय उस किशोरी का छोटा भाई आया और बोला - 'दीदी ने कहा है, जब से आपकी

बीमारी का समाचार मिला है, मुझे न दिन में भोजन अच्छा लगता है न रात में नींद आती है।' इस कृत्रिम नाटकीय वाक्य को सुनकर मुझे तो हँसी आ गयी परंतु बेढबजी कब चूकनेवाले थे! उन्होंने दर्द से कराहते-कराहते ही उत्तर दिया-'जाओ, अपनी दीदी से कह दो कि वह शीघ्र ही सती होने की तैयारी कर ले।'

इसी बीमारी के समय एक बेढबजी के प्रशंसक डाक्टर देखने आये। वे बैठकर उनसे साहित्य-चर्चा करने लगे। इंग्लैंड के कई लेखकों का हवाला देकर उन्होंने कहा कि बेढबजी, साहित्यकारों का यह दुर्भाग्य है कि वे सदा गरीबी में मरते हैं। बेढबजी ने गंभीरता से कहा, 'उनके पास पैसा कहाँ से ठहरे ! मरते समय तक सारा पैसा डाक्टरों की पाकिट में चला जाता है।' मैं हँसने लगा और डाक्टर साहब पानी-पानी हो गये।

एक अन्य अवसर पर बेढबजी के एक परम भक्त डाक्टर जो हिंदी में लंबी-लंबी कविताएँ लिखते थे, हम लोगों के साहित्यिक आयोजनों का काफी समय उनको सुनाने में लगा देते थे क्योंकि बौद्धिक सूझबूझ के अतिरिक्त उनमें ऐसा रस नहीं रहता था जो सब के गले उतर सके। बेढबजी उनकी प्रशंसा कर देते थे और उन्हें सुनाने का पूरा अवसर देते थे। यह उपस्थित अन्य कुछ श्रोताओं को अच्छा नहीं लगता था। एक बार कुछ लोगों ने बेढबजी से कहा 'बेढबजी, आप व्यर्थ उनकी इतनी प्रशंसा कर देते हैं, उनकी कविताओं से तो हमें कुछ भी आनंद नहीं मिलता है।' वे डाक्टर पैथोलॉजिस्ट थे। बेढबजी ने कहा, 'भाई ! वह मेरे रक्त और मल-मूत्र आदि की मुफ्त जाँच करते रहते हैं, मैं क्या मौखिक रूप से उनकी प्रशंसा भी न करूँ !'

काशी के अपने पूर्व-वर्णित प्रथम कविसम्मेलन की एक मनोरंजक घटना याद आ रही है। उस कवि-सम्मेलन में बेधड़क बनारसी ने एक चौपदा सुनाया जिसकी अंतिम दो पंक्तियाँ थीं, 'खाक़ मैं कविता सुनाऊँ आप को अब इस जगह, दिल में तो यह है, कहीं जूता मेरा गायब न हो,' इस पर मेरे मित्र राधेश्यामजी ने मंच के नीचे श्रोताओं की पंक्ति से, जहाँ वे बैठे थे, व्यंग्य किया 'आप कविता सुनाइए। जूते बहुत मिल जायेंगे।' इस पर मंच से बेधड़कजी ने उत्तर दिया' 'मैं नहीं जानता था कि यहाँ एक मोची भी बैठे हैं।'

मैं यहां उक्त कवि सम्मेलन में पठित अपनी उक्त रचना, जिसका मेरे साहित्यिक जीवन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है, आद्योपांत दे रहा हूँ। 1938 में, अर्थात 15 वर्ष की अल्पावस्था में लिखी वह कविता आज भी मेरी श्रेष्ठ रचनाओं में गिनी जा सकती है—

मै कवि के भावों की रानी

मेरे पायल की छूम-छनन
गुंजित कर देती जग-उपवन
जड़ भी हो उठते हैं चेतन
पाषाणों को मिलती वाणी
भर जाती सुषमा के मधुकण
अलसित पलकों में स्वप्न सघन
मैं कवि की कुटिया में छन-छन
आती अंबर से दीवानी
मेरे अस्फुट कंठों का स्वर
प्रतिध्वनित हुआ जग-वीणा पर
दुहराया करता है सागर
मेरे ही अंतर की वाणी
संध्या मेरा परिधान पहन
आती नभ-प्रांगण में बन-ठन
ले मेरी मधुमय गंध सुमन
कहलाता जगती पर दानी
संसार निखिल मधु-घट मेरा
नव प्रकृति मनोरम पट मेरा
कवि का मानस पनघट मेरा
नटनागर कवि की कल्याणी
कवि कलित कल्पना के स्तर पर
देता मुझको गीतों में भर
सुन-सुन जग ने जिनका मृदु स्वर
जीवन की सार्थकता जानी
जब देख मुझे था जग विस्मित
मैं उसे लगी थी तब परिचित
युग-युग से हृत्-पट पर चित्रित
युग-युग की जानी-पहचानी

मैं मूक हृदय की भाषा हूँ
मैं जीवन की परिभाषा हूँ
कवि की अतृप्त अभिलाषा हूँ
जो फूट पड़ी बन युग-वाणी
वेदना-सिंधु के बीच पली
नयनों से मोती बन निकली
पाने वह मृदु मुक्ता-अवली
दौड़ी दुनिया बन दीवानी
कुहकी कोयल काली-काली
मैं मधु-घट भर लायी, आली!
उठ, कवि! ले सपनों की प्याली
रे, आज ढलेगी मनमानी
मैं कवि के भावों की रानी

जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ काशी हिंदू विश्वविद्यालय में उन दिनों दो कवियों का विशेष नाम था। एक तो थे पागल उपनाम के बिहार के गया जिले से आये हुए कवि जिनकी वेशभूषा किसी संत के समान थी तथा जिनकी कविता में भी उनके स्वभाव के अनुरूप ही सौम्यता तथा छायावादी रहस्यात्मकता रहती थी। दूसरे थे सुप्रसिद्ध कवि श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' जो संभवत एम. ए. 'हिंदी' के प्रथम वर्ष के छात्र थे। वे अपनी कविता बड़े जोश-खरोश से विशेष बलाघात के साथ सुनाते थे। उनकी एक कविता **देखो मालिन, मुझे न तोड़ो** बहुत प्रसिद्ध थी। सुमनजी के आक्रामक प्रचारवादी दृष्टिकोण के कारण और उनकी ख्याति के कारण बहुत से विद्यार्थी उनसे मन-ही-मन ईर्ष्या भी करते थे। साहित्यिकों में भी अनेक व्यक्ति उनसे प्रसन्न नहीं थे और मुझे आगे बढ़ाकर उनको नीचा दिखाना चाहते थे। एक दिन वे टहलते हुए मुझे मिल गये। मेरी ख्याति उपर्युक्त कविसम्मेलन में कविता-पाठ के बाद काफी फैल गयी थी। उन्होंने मुझे पुकारा तो मैं बड़े उत्साह से उनसे मिला क्योंकि उनके नाम से मैं परिचित था यद्यपि उपर्युक्त कविसम्मेलन में वे सम्मिलित नहीं थे इसलिए वहाँ उन्होंने मेरी रचना नहीं सुनी थी और उनसे मेरा परिचय नहीं हो सका था। हम लोग एक पार्क में बैठ गये और उन्होंने कुछ सुनाने को कहा तो मैंने उन दिनों

लिखा एक गीत उन्हें सुनाया जिसकी प्रारंभिक पंक्तियाँ थीं—

तेरी यह अनंत अभिलाषा

किस महान सुख की कर आशा

बैठा है चुपचाप ठगा-सा

संमुख मधु का सिंधु उमड़ता, तू प्यासा का प्यासा

सुमनजी गीत सुनते ही उछल पड़े। उन्होंने उसके बाद सारे विश्वविद्यालय में मेरी प्रशंसा के पुल बाँध दिये। यही नहीं, मेरे एक दूसरे गीत को उन्होंने मोटे-मोटे अक्षरों में एक दफ्ती पर लिखाकर अपने कमरे में सामने टाँग दिया। वह गीत बेढबजी को भी बेहद पसंद था परंतु इस प्रकार कमरे में सामने टाँगने की बात तो विचित्र ही थी। सुमनजी उस समय खनिज विज्ञान के विख्यात प्रोफेसर वी. एस. दूबे की कोठी में रहते थे। जब मैंने सुमनजी से मेरे गीत को इस प्रकार प्रदर्शित करने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा, 'जब कोई कमरे में आते ही मुझसे पूछता है कि क्या यह रचना आपकी है, तो मैं तुम्हारी रचना बताकर तुम्हारी प्रशंसा करने लगता हूँ। मैंने बनारसीदास चतुर्वेदी का यह मंत्र अक्षरशः ग्रहण कर लिया है कि दुनिया इतनी बड़ी है कि जब तक तुम पहाड़ की चोटी से चिल्लाकर अपनी बात नहीं कहोगे, कोई सुननेवाला नहीं है। मुझे खेद है कि बनारसीदासजी चतुर्वेदी के इस महामंत्र को, जिसको सुमनजी ने आत्मसात् कर लिया था, मैं अपने स्वाभाविक संकोची स्वभाव के कारण ग्रहण नहीं कर सका अन्यथा इतनी विपुल और विविध प्रकार के काव्य की रचना करने के बाद भी मैं इस प्रकार पर्दे में छिपा नहीं रहता।

प्रसाद परिषद् की गोष्ठियों में जलपान भी प्रचुर मात्रा में रहता था। प्रगतिवादियों की जमात जो त्रिलोचन शास्त्री और अमृतराय के उद्योग से **प्रगतिशील साहित्य संघ** के नाम से अपने अलग आयोजन करती रहती थी, **प्रसाद परिषद्** की गोष्ठी को जलपान-गोष्ठी के नाम से चिढ़ाने की चेष्टा करती थी। अमृतराय मुझसे मिलते रहते थे और उन्होंने मुझे प्रगतिशीलों की जमात में सम्मिलित होकर ख्याति प्राप्त करने के बहुत प्रलोभन भी दिये, 8-8 पृष्ठ के लंबे पत्र लिखे जिसमें इस नवीन वाद को मुझे समझाने की चेष्टा की, परंतु मेरे चारों ओर तो बेढबजी का रक्षा-कवच था, उनकी एक न चली। मैं प्रारंभ से यही मानता था कि कवि को वही लिखना चाहिए जो वह अनुभव करे। मैं जिस समाज में पालित हुआ था तथा जिस समाज में रहता था उसमें किसान-मजदूरों से मेरा संपर्क बहुत कम था। जब तक मैं उनकी पीड़ा को निकट

से न देख पाता और उनके दर्द का अनुभव स्वयं न करता, मेरा उनके विषय में लिखना निरा फैशन होता। मैंने उन तमाम रचनाओं को काल के गर्भ में जल-बुद्बुदों की तरह विलीन होते हुए देखा है जिनमें बिना अनुभूति के मात्र फैशन और वाद के नाम पर किसान-मजदूरों का गुणगान किया गया था।

बेढबजी मेरी कविताएं भी पत्रिकाओं में भेजने लगे। उनके मित्र ज्योति प्रसाद 'निर्मल' इलाहाबाद से **देशदूत** नामक साप्ताहिक पत्रिका का संपादन करते थे। उसमें प्रमुख घटनाओं पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी का बेढबजी द्वारा लिखा एक स्तंभ 'चने के दाने' के नाम से नियमित निकलता था। **देशदूत** में निर्मलजी मेरी रचनाएं भी छापने लगे। कलकत्ते से श्री दीनानाथ वर्मा एक मासिक पत्रिका **रानी** नाम से बड़ी सजधज से निकालते थे। बेढबजी द्वारा भेजी गयी मेरी कविताएं उसमें भी बड़ी सजावट के साथ छपने लगीं। उन दिनों मैं गुलाब के नाम के आगे खंडेलवाल नहीं जोड़ता था। दीनानाथजी मुझे कोई बड़ी अवस्था वाला वयस्क कवि समझते थे। एक बार जब मेरी कविता रानी में छपी तो कलकत्ते के उस समय के छायावादी कवि श्री गुलाबरत्न बाजपेयी ने बड़ी गुहार लगायी और दीनानाथजी वर्मा को एक लंबा पत्र भेजकर मुझसे कोई दूसरा उपनाम चुनने का आग्रह किया। दीनानाथ वर्मा ने वह पत्र बेढबजी को भेजा जिसके उत्तर में बेढबजी ने अत्यंत चुटीले ढंग से उन्हें लिख भेजा कि यदि उपनाम चुनना होता तो बाजपेयीजी जो नाम बताते वही गुलाबजी रख लेते पर यह गुलाब उपनाम न होकर गुलाबजी के माता-पिता का दिया हुआ नाम है, इस लिये वे विवश हैं। इसका एक मनोरंजक पक्ष तो यह है कि बेढबजी ने मेरा चित्र भी बाजपेयीजी को भेज दिया और यह लिख दिया कि वे चित्र को सामने रखकर स्वयं निर्णय करलें कि कौन गुलाब नाम का सच्चा अधिकारी हो सकता है।

काशी के अपने चार वर्षों के अध्ययनकाल में बेढबजी के साथ मैं कविसम्मेलनों में भी दूर-दूर की यात्रा कर सका था। उनमें सब से पहली यात्रा थी आजमगढ़ के एक कवि सम्मेलन की। चूँकि बेढबजी से पूरी तरह निकटता नहीं हुई थी इसलिए मेरे साथ मेरे अभिभावक के नाते मेरे मित्र राधेश्याम गुप्त को भी उन्होंने आमंत्रित करवा दिया था। उस कवि-सम्मेलन में हल्दीघाटी के कवि श्यामनारायण पांडेजी से भी परिचय हुआ जो बाद में मेरे घनिष्ठ मित्र बन गये। प्रारंभ में सुप्रसिद्ध कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान की सब से छोटी बहन कमलाकुमारीजी भी मेरे और बेढबजी के साथ कविसम्मेलनों की यात्रा करती थी। आजमगढ़ के कविसम्मेलन में कमलाकुमारीजी भी हमारे साथ थीं। उनके पति डॉ. एच सिंह होमियोपैथी की प्रैक्टिस करते थे। उनकी तीन पुत्रियाँ थीं जो

सभी साहित्यिक संस्कारों से समृद्ध थीं। बाद में तो कमलाकुमारीजी का घर मेरे लिए अपने घर की तरह हो गया था और उनकी तीनों पुत्रियाँ चिंता, गायत्री और खूखी जो प्रायः मेरी-सी अवस्था की थीं, मुझसे बहुत घुलमिल गयीं। उनमें भी बड़ी चिंता तो एक दम मेरी ही उम्र की थी और उसके और मेरे बीच बहुत व्यंग्य-विनोद चलता रहता था। बेढबजी के साथ ही मैं कमलाकुमारीजी के यहाँ भी प्रति रविवार को तथा अन्य छुट्टियों में जाया करता था और वह परिवार मेरे लिए अपने परिवार के समान बन गया था। चिंता कविता भी लिखती थी और यों तो मेरी कविताओं की प्रशंसा करती थी पर कभी-कभी मुझसे साहित्यिक वाद-विवाद भी कर बैठती थी। जब हम दोनों में कोई मतभेद सुलझ नहीं पाता था तो बेढबजी हँसकर उसे सुलझा देते थे। जब मैं विश्वविद्यालय लौटता तो राधेश्याम गुप्त जो होस्टल में मेरे पार्टनर थे, चिंता को लेकर मुझसे मजाक भी कर बैठते थे। चिंता ने और मैंने साहित्य सम्मेलन की विशारद की परीक्षा साथ-साथ होड़ बदकर दी थी। उसमें चिंता के अंक मुझसे अधिक आये। मैं उसके आगे थोड़ा अप्रतिभ हो गया तो बेढबजी ने हँसकर चिंता से कहा, 'गुलाब तो कवि है। कविता के पर्चे में उसको तुम से अधिक अंक मिले। शेष पर्चों के अंक तो मेहनत से प्राप्त किये जाते हैं जो विज्ञान की पढ़ाई और कविसम्मेलनों की भागदौड़ में गुलाब कैसे कर सकते थे ! कविता के पर्चे में मुझे चिंता से अधिक अंक मिले थे यद्यपि कुल पर्चों के अंकों के जोड़ में मैं पिछड़ गया था।

आजमगढ़ के कविसम्मेलन में भाग लेने के बाद और **प्रसाद-परिषद्** की गोष्ठियों में भाग लेने के कारण बेढबजी से मेरी बहुत निकटता हो गयी थी और एक प्रकार से वे मेरे अभिभावक ही बन गये थे। जब भी कवि-सम्मेलन में बाहर कहीं जाना होता तो मैं अवश्य उनके साथ जाता। बीच-बीच में समयानुसार कमलाकुमारीजी भी साथ दे देती थीं। **प्रसाद-परिषद्** की गोष्ठियों की या उन कवि-सम्मेलनों की जिनमें मैंने 1940 में भाग लिया, चर्चा करना व्यर्थ है। उनके ब्यौरे की मुझे, डायरी के न रखने के कारण, विशेष स्मृति भी नहीं हैं। केवल यही याद है कि **प्रसाद-परिषद्** की गोष्ठी में किसी साहित्यिक विषय पर निबंध पढ़ा जाता था जिस पर सभी अपना मत प्रकट करते थे। एक कहानी पढ़ी जाती थी, बेढबजी की हास्यरस की कविता होती थी और शंभुनाथ सिंह की और मेरी गंभीर कविता होती थी।